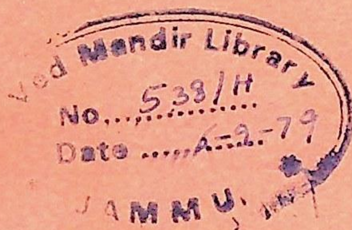
रामनाम एक चिंतन

विनोबा भावे

रामनाम एक चिन्तन



विनोबा

सर्व सेवा प्रकाशन

राम-नाम : एक चिन्तन

विनोबा

सर्व-सेवा-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक : सर्व-सेवा-प्रकाशन,
राजघाट, वाराणसी-१

मुद्रक : चन्द्रप्रभा प्रिंटिंग प्रेस
सुधाकर रोड, खजुरी
वाराणसी-कैण्ट

संस्करण : पाँचवाँ

प्रतियाँ : ३,०००; दिसम्बर १९७६

कुल प्रतियाँ : १६,०००

मूल्य : एक रुपया

Rupee one

Title : RAM-NAM : EK CHINTAN

Author : Vinoba

Subject : Religion

SARVA-SEVA-PRAKASHAN

RAJGHAT, VARANASI-1

प्रस्तावना

राम-नाम सम्बन्धी गांधीजी के विचारों का संग्रह ठीक उसी समय मेरे हाथ लगा, जब कि मुझे उसकी जरूरत थी। 'सर्वोदय' मासिक पत्र में समालोचनार्थ अनेक पुस्तकें आती रहती हैं। उन्हीं में से एक 'राम-नाम' पुस्तक भी आयी। अन्य पुस्तकों को तो मैं कम ही देख पाता हूँ, लेकिन इसके चिन्तन में मैं लीन हो गया।

मानो, मेरे लिए बापू ने अपना सन्देश इस पुस्तक के रूप में दिया। मैं डेढ़-दो वर्षों से भारत-यात्रा कर रहा था। तीस वर्ष अनेकविध रचनात्मक कार्यों में बिताये। चिन्तन भी तरह-तरह का हो पाया। उसका निष्कर्ष लोगों को समझा रहा था। फिर भी यात्रा का मुझे उतना विशेष अनुभव न होने से अनियमितता हो गयी और जेल में मुझे जो पेट-दर्द शुरू हुआ था, उसने फिर से जोर किया। इस तरह मानो ईश्वर ने मुझे प्राकृतिक उपचार और राम-नाम का प्रयोग करने का यह अवसर दिया। 'सदा-सर्वदा सन्निधि' में रहनेवाले 'कृपालु' ने मानो भक्त का धैर्य आजमाना चाहा। स्वयं ही पढ़ायी हुई विद्या की गुरु परीक्षा लिया करते हैं, वैसा ही यह प्रसंग मुझे दिखाई पड़ने लगा।

इस काल में मैंने अपने अवान्तर कार्य अलग रख दिये थे, क्योंकि वह विश्राम का समय माना गया था। पर 'सर्वोदय' के सम्पादन का काम करता ही रहा। फिर 'गीताई' का कोश भी पूरा करना था। उसमें भी कुछ समय देता था। इसके सिवा अन्य हलचलें अधिकतर बन्द ही थीं। उस समय भारतन् कुमारप्पा द्वारा किया गया बापू के राम-नाम-सम्बन्वी विचारों का संग्रह मेरे हाथ आया। मुझे लगा, धन्वन्तरि ने मेरे रोग के लिए दिव्यवल्ली ही भेजी और मैं उसका आस्था से सेवन करने लगा।

उन विचारों को पचाने के लिए मैंने जो चिन्तन किया, वही लेख के रूप में 'सर्वोदय' में हिन्दी में व्यक्त किया। मैं प्रायः अपना सारा

वाङ्मय मूल मराठी में ही लिखा करता हूँ, क्योंकि वही भाषा मुझे आती है। लेकिन यह लेख मूल हिन्दी में ही लिखा। कारण, इन विचारों की आधारभूत मूल हिन्दी की पोथी ('राम-नाम') ही मेरे सामने थी। उसीके अनुसार चिन्तन भी मैं हिन्दी में करता। वही आज पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहा है, जिसके लिए यह मेरी प्रस्तावना है।

यह हिन्दी लेख पढ़कर बहुतों ने अत्यन्त सन्तोषजनक उद्‌गार व्यक्त किये। बहुतों ने लिखा कि इस लेख ने उनके जीवन को नयी दिशा दी। एक ने तो लिखा : "बापू के राम-नाम विषयक विचार मैं सदा से ही पढ़ता आ रहा हूँ, फिर भी मेरे हृदय में वे भली-भाँति अंकित नहीं हो पाते थे। आपके इस लेख से संशय छिन्न ही हो गया।" स्पष्ट ही यह सिर्फ लेख का गौरव है। फिर भी इस पाठक को यह जो अनुभव हुआ, वह मेरी कल्पना से अतीत नहीं। हम देखते ही हैं कि मानव को समुद्र से जो लाभ नहीं होता, वह समुद्र से पोषण पानेवाले मेघ से होता है। यह भी उसी तरह की बात है। विशिष्ट पचनेन्द्रियों को पौष्टिक अन्न सीधे पच नहीं पाता। उसे ही पचाकर दिया जाय, तो पचता है।

जिस तरह नाम-स्मरण की श्रद्धा मैंने अपने हृदय में बैठायी और उसका अनुभव भी किया, उसी रीति से इस लेख में भी मैंने उसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। उसने मेरे चिन्तन और अनुभव को ठीक-ठीक जोड़ने का अवसर दिया। और ठीक मुझे भी उससे लाभ हुआ। तुलसी-दास ने रुग्णावस्था में 'हनुमान-बाहुक' लिखा, उससे उनका रोग मिटने में मदद मिली, ऐसा कहा जाता है। बड़ी उपमा छोटी चीज को किस तरह शोभा देगी ? फिर भी मेरे लिए यह लेख 'हनुमान-बाहुक' ही हुआ है।

विनोबा का
जय जगत्

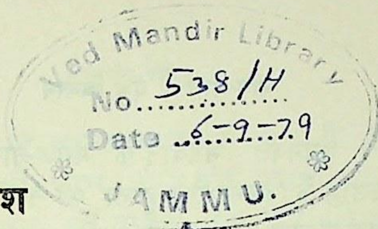
मेरा राम कौन ?

आप लोग उस सर्वशक्तिमान् भगवान् की गुलामी मंजूर करें। इससे कोई मतलब नहीं कि आप उसे किस नाम से पुकारते हैं। तब आप किसी इन्सान या इन्सानों के सामने घुटने नहीं टिकायेंगे। यह कहना नादानी है कि मैं राम—महज एक आदमी—को भगवान् के साथ मिलाता हूँ। मैंने कई बार खुलासा किया है कि मेरा राम खुद भगवान् ही है। वह पहले था, आज भी मौजूद है, आगे भी हमेशा रहेगा। न कभी वह पैदा हुआ, न किसी ने उसे बनाया। इसलिए आप जुदा-जुदा धर्मों को बरदाश्त करें और उनकी इज्जत करें। मैं खुद मूर्तियों को नहीं मानता, मगर मैं मूर्तिपूजकों की उतनी ही इज्जत करता हूँ, जितनी औरों की। जो लोग मूर्तियों को पूजते हैं, वे भी उसी एक भगवान् को पूजते हैं, जो हर जगह है, जो उँगली से कटे हुए नाखून में भी है। मेरे ऐसे मुसलमान दोस्त हैं, जिनके नाम रहीम, करीम, रहमान हैं। जब मैं उन्हें रहीम, करीम और रहमान कहकर पुकारता हूँ, तो क्या मैं उन्हें खुदा मान लेता हूँ?

—मो० क० गांधी

'हरिजन सेवक'
२-६-'४६

अनुक्रम



अन्तरंग-प्रवेश

: १ :

बापू ने समय-समय पर राम-नाम के बारे में जो भी विचार प्रकट किये थे, उनका एक छोटा-सा संग्रह भारतन् कुमारप्पा ने तैयार किया है और नवजीवन-प्रकाशन-मन्दिर ने इसे प्रकाशित किया है। इसमें कुछ तो बापू के लेख हैं, कुछ उनके भाषण हैं और कुछ पत्र हैं। परिशिष्ट में बापू के आखिरी जीवन में राम-नाम किस तरह अन्तर्बाह्य ओतप्रोत था, उसका बयान करनेवाली एक स्मरण-कथा जोड़ी गयी है।

यह पुस्तक थोड़े में, सब कुछ है। व्रत-चर्या का विवरण करनेवाली बापू की 'मंगल-प्रभात' जैसे एक चिरन्तन-साहित्य के तौर पर रह जानेवाली पुस्तक है, वैसी यह चीज है। इसका थोड़ा चिन्तन मैं यहाँ करना चाहता हूँ।

नाम-निरूपण में अभेद

परमेश्वर के नाम की महिमा सब धर्मों ने गायी है। यद्यपि हर धर्म की, जीवन की तरफ देखने की, अपनी-अपनी दृष्टि होती है, तथापि इस विषय में न उनमें कोई दृष्टि-भेद है, न विचार-भेद। भगवान् के अनेक गुणों के अनुसार अनेक नामों की कल्पना करके अपनी-अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुरूप उस-उस नाम का जप या सब नामों का सम्मिलित जप करने की प्रथा सब धर्मों ने चलायी है और दुनियाभर के सब सन्तों ने अपने अनुभव से उसकी पुष्टि की है। सगुण-निर्गुण का भेद भी यहाँ मिट गया है। नानक का 'जपुजी' और ज्ञानदेव का 'हरिपाठ' दो विभिन्न सम्प्रदाय के होते हुए भी नाम-निरूपण में कोई भिन्नता

नहीं रखते। 'भागवत' भगवान् के मंगल-नाम गाती है और 'कुरान' अल्लाह के 'अस्मा उल् हुस्ना' की तस्बीह (जप-माला) करता है। एक संस्कृत और दूसरा अरबी, इतना ही फर्क है।

भारत में नाम-रस की विपुलता

भारत की हर भाषा में नाम-रस से भरा साहित्य विपुल है। नाम-रसायन के सेवन में कोई भाषा किसी भाषा से पिछड़ी नहीं है। तुलसीदास, चैतन्य, तुकाराम, नरसी मेहता या नम्माळ्वार भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखते हैं, लेकिन मानो एक-दूसरे के तर्जुमे कर रहे हैं। तुलसीदास की रामायण में तो राम से भी नाम को श्रेष्ठ बतलाया है और दोनों की तुलना करनेवाली एक परम-मधुर छोटी-सी नामायन ही उन्होंने लिख डाली। गांधीजी ने वहीं से स्फूर्ति पायी है और उसका अर्थ अपने अनुभव से हमारे सामने खोल दिया है।

वेदों में नाम-महिमा

नामानुभूति का प्रथम उद्गार, जो हमें वाङ्मय में मिलता है, वह वेद है। ऋग्वेद में 'नाम' शब्द तो सौ-एक बार आया होगा, लेकिन सारे वेद का सार परमेश्वर-नाम ही है, ऐसी उपनिषदों ने घोषणा की है :

सर्वे वेदा यत् पदं आमनन्ति।

—"सारे वेद ईश्वर के नाम का ही आमनन करते हैं।" इसी पर से वेद को 'आम्नाय' याने परमेश्वर के नाम का आमनन करनेवाला, ऐसी संज्ञा मिली है। आमनन याने विस्तृत मनन। यही श्रद्धा सन्तों ने दृढ़ की है। वैष्णव भक्त तुकाराम कहता है :

वेद अनन्त बोलिला। अर्थ इतुकाचि साधिला।
विठोबासि शरण जावें। निज-निष्ठा नाम गावें॥

"यद्यपि वेद ने अनन्त व्याख्यान किया है, तथापि सार यही है कि विट्ठल की शरण जाना और उसका नाम निष्ठापूर्वक गाना।" वह संस्कृत नहीं जानता था, फिर भी उसे वेद-सार का पता चल गया है। इतना ही नहीं, वह आत्मविश्वासपूर्वक कहता है :

वेदाचा तो अर्थ आम्हासी च ठावा।
येरांनीं वहावा भार माथां॥

—"वेद का भावार्थ हम ही जानते हैं—दूसरे तो भारवाही हैं।" वैष्णव तुकाराम ने जो वेद-सार जाना था, वही तमिल के शैव-शिरोमणि ज्ञान संबंधर को मालूम हुआ था :

वेद नान्गिनुम् मेय् पोरुळावदु
नादन्-नामम् नमः शिवायवे।

"चारों वेदों में अगर कोई सारभूत सत्य है, तो शिव भगवान् का नाम है।" यह सिर्फ दूसरों को साक्षी का या श्रद्धा का विषय नहीं है। वेद स्वयं अपने बारे में यही कहते हैं :

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस् तत् न वेद किम् ऋचा करिष्यति।

—"वेद की सारी ऋचाएँ याने वेद-मंत्र एक अक्षर में—एक परमेश्वर नाम में, जो कि हृदय के परम आकाश में छिपा हुआ है, बिठाये हुए हैं। उसको जो नहीं जानेगा, वह वेद के मंत्र लेकर क्या करेगा?" वह अक्षर 'ॐ' माना गया। वही सबमें 'रम-रहिया राम' है।

गांधीजी से बार-बार पूछा गया है कि तुम्हारा राम कौन-सा है? तो उन्होंने इसी परम-रमणीय सर्वान्तर्यामी आत्माराम का निर्देश किया है। लोग पूछते हैं : "क्या वह दशरथ-नन्दन है?"

तो मैं जवाब देता हूँ कि दशरथ ने अपने नन्दन को जिसका नाम दिया था, वही वह है। वह विश्व-नन्दन है, इसलिए दशरथ-नन्दन भी है। वह विश्वरूप है, विश्वातीत है।

तुका म्हणें जें जें बोला। तें तें साजे या विट्ठला।

तुकाराम कहता है : "विठ्ठल के लिए जो भी बोलें, शोभता है।"

एक दफा तुकाराम को परमेश्वर पर गुस्सा आया, तो वह ईश्वर से कहने लगा : "हे ईश्वर, आज मैं तुझे गालियाँ देता हूँ। तू गधा है, तू कुत्ता है। तू भारवाही बैल है।" क्या विष्णु के सहस्र-नाम ही विष्णु के हैं और ये नाम किसी दूसरे के हैं ? 'विष्णु-सहस्र-नाम' में पहला नाम ही 'विश्वम्' दिया है। सारा विश्व हरि-नाम है। समझनेवाले समझ लें।

वेद में परमेश्वर का 'चारु-नाम' गानेवाले कई मंत्र हैं, लेकिन उन सबमें नीचे का मंत्र भक्त-जनों में विश्रुत है :

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।
विप्रासो जातवेदसः।

—"हे परमेश्वर, हम मरण धर्मी हैं, तू अमृत-स्वरूप है। हम ज्ञान के उत्सुक (विप्र) हैं, तू जाननेवाला ज्ञानमय है। हम (अल्प) तेरे विशाल नाम का मनन करते हैं।" मंत्र में 'भूरि' याने विशाल की तुलना में 'अल्प' शब्द का अध्याहार समझ लेना है। हम देख सकते हैं कि इसमें नाम के मनन का जिक्र है, न कि केवल उसके उच्चारण का। और यही गांधीजी बार-बार दोहराते जाते हैं : "राम-नाम हृदय से लेना है, सिर्फ वाणी से नहीं। राम-नाम केवल बाह्य क्रिया नहीं है, वह अन्तःशोधन का एक साधन है।" नाम-चिन्तन के इस सर्वमान्य मंत्र में उपनिषद् की यह सुप्रसिद्ध प्रार्थना-त्रयी छिपी हुई है :

असतो मा सद् गमय।

तमसो मा ज्योतिर् गमय।

मृत्योर् मा अमृतं गमय॥

--जो असत्, वही संकुचित या अल्प है। जो सत्, वही इस मंत्र में निर्दिष्ट 'भूरि' है। बाकी दो प्रार्थनाएँ तो प्रकट की हैं।

'नाम' शब्द का अर्थ

हम अपना मनन आगे चलायें, इसके पहले जरा यह भी देख लें कि 'नाम' शब्द का अक्षरार्थ क्या होता है। नाम शब्द 'नम्' धातु से बना है, जिससे 'नम्रता' और 'नमस्कार' साधित हैं। भक्त को नाम असत्य से सत्य में ले जायगा, इसके अव्वल उसे वह नम्र बनायेगा। नम्रता के बिना सत्यशोधन नहीं होता, इसलिए सारे वैज्ञानिक नम्र होते हैं। नम्रता के बिना चित्तशोधन नहीं होता, इसलिए सारे आध्यात्मिक नम्र होते हैं। बापू की वह अद्भुत प्रार्थना, "हे नम्रता के देव, तेरी अपनी नम्रता तू हमें दे!" यहाँ याद आये बगैर नहीं रहती। वह हम सबको, मैं कहने जा रहा था, नित्य प्रातःस्मरणीय, किन्तु नित्य-निरन्तर स्मरणीय है। नम्रता के उपासक श्री किशोरलालभाई ने लिखा था : "ईश्वर के लिए गांधीजी का यह सम्बोधन धार्मिक साहित्य में अनूठा है।...उन्होंने ईश्वर को चौदह भुवनों के स्वामी, गोलोक, वैकुण्ठ या बहिश्त के निवासी वगैरह नहीं कहा...परन्तु परम शून्य निरहंकार का लौकिक भाषा में अनुवाद कर 'नम्रता के देव' कहा।" किशोरलालभाई का यह कथन साधारणतः ठीक है, लेकिन जब हम 'नाम' शब्द का अक्षरार्थ, भावार्थ और अनुभवार्थ देखते हैं तो बापू के उस विशेषण को अनूठा कैसे कह सकते हैं?

और, वास्तव में नाम-साहित्य के सारे प्रवाहों से जो परिचित हैं, वे उसे अनूठा कबूल नहीं करेंगे। बापू की उसमें विशेषता जरूर थी, फिर भी भगवान् को दिया हुआ वह विशेषण पूर्वभक्तों का उच्छिष्ट ही है। उपनिषद् में एक स्थान पर कहा है :

तत् नम इत्युपासीत,
नम्यन्ते अस्मै कामाः।

--"उसकी नम्रता के रूप में उपासना करनी चाहिए। जो इस तरह उपासना करेगा, उसके सामने सब कामनाओं को झुकना पड़ेगा, अर्थात् वह सर्वथा निर्विकार बनेगा।" वेद में ईश्वर को नम्रता-मूर्ति बतानेवाला एक वाक्य इस तरह है :

नम इत् उग्रं नम आ विवासे
नमो दाधार पृथिवीं उत द्याम्।

--"नम्रता ही ऊँची है। मैं नम्रता की उपासना करता हूँ। नम्रता ने पृथ्वी और स्वर्ग को धारण किया है।" आखिरी वाक्य से स्पष्ट है कि यहाँ नम्रता परमेश्वर की संज्ञा है। बापू ने ईश्वर की नम्रता का वर्णन करते हुए "दीन-भंगी की हीन-कुटिया के निवासी" कह कर पुकारा है। वेदों में कहा है, तेरे सख्य को कोई टाल नहीं सकता, क्योंकि जो गाय चाहता है, उसके सामने तू गाय बन कर खड़ा होता है, जो घोड़ा चाहता है, उसके लिए तू घोड़ा बनता है।

गौरसि गव्यते, अश्वो अश्वायते भव।

ऐसे नम्र और सहज झुकनेवाले की मित्रता को कौन टाल सकेगा ? सारांश, नाम-स्मरण से सर्वप्रथम और सर्वाधिक अपेक्षा नम्रता-प्राप्ति की है और होनी चाहिए, यह नाम-शब्द ही कह रहा है।

त्रिविध मुक्तियाँ : २ :

एक आख्यायिका

अब हम पुस्तक के अन्तरंग में प्रवेश करेंगे। मुझे यह पुस्तक पढ़कर 'विष्णु-सहस्र-नाम' के 'शांकर-भाष्य' का स्मरण हुआ। उस भाष्य में एक-एक नाम का निर्वचन करते हुए भाव-विवरण किया है। बापू की इस पुस्तक में नाम-स्मरण के अनेक पहलू आज की भाषा में खोलकर बताये हैं। वे सारे उस भाष्य में छिपे हुए हैं। छिपे हुए इसलिए कहता हूँ कि वहाँ सूत्र-रूप लेखन-शैली है, इसलिए बहुत-सा अर्थ स्वयं चिन्तन करके निकालना पड़ता है। वैसी ही उसमें कल्पना है। उस भाष्य के विषय में एक बहुत दिलचस्प आख्यायिका कही जाती है। कहते हैं, शंकराचार्य का वह प्रथम लेखन है। वे शास्त्र में से किसी-न-किसी वचन का मनन रोज पटिया पर लिख रखते, लेकिन वह टिकता नहीं था। सरस्वती उस लेखन को अपने हाथ से मिटा देती थी। आखिर उन्होंने 'विष्णु-सहस्र-नाम' का मनन लिखना शुरू किया, तो उसको सरस्वती ने नहीं मिटाया। मैं नहीं जानता कि किसीके किस लेखन को कालात्मा मिटानेवाला है और किस लेखन को रहने देनेवाला है। बहुत संभव है कि मानव के सारे साहित्य को ही वह मिटा देना चाहे, फिर भी परमेश्वर का नाम अमिट रहेगा।

(१) भय-मुक्ति

इस पुस्तक का विश्लेषण करने पर तीन मुक्तियों का दर्शन होता है: १. भय-मुक्ति, २. विकार-मुक्ति और ३. रोग-मुक्ति। बंगाल में वहाँ के हिन्दुओं को जब बापू ने अत्यन्त भयभीत पाया,

तब उनके सामने उनके इलाज के तौर पर राम-नाम पेश किया। अपने एक व्याख्यान में वे कहते हैं :

"अगर आप अपने दिल से डर को दूर कर दें, तो मैं कहूँगा कि आपने मेरी बहुत मदद की। लेकिन वह कौन-सी जादुई चीज है, जो आपके इस डर को भगा सकती है ? वह है, राम-नाम का अमोघ मन्त्र। शायद आप कहेंगे कि राम-नाम में आपको विश्वास नहीं, आप उसे नहीं जानते। लेकिन उसके बगैर आप एक साँस भी नहीं ले सकते।....राम पवित्र लोगों के दिल में हमेशा रहता है। अगर आप राम-नाम से डरकर चलें, तो दुनिया में आपको किसी से डरने की जरूरत न रह जाय। 'अल्लाहो अकबर' की पुकारों से आपको क्यों डरना चाहिए ? इस्लाम का अल्लाह तो बेगुनाहों की हिफाजत करनेवाला है। अगर ईश्वर में आपकी श्रद्धा है, तो किसी की ताकत है कि आपकी औरतों और लड़कियों की इज्जत पर हाथ डाले ? मुझे उम्मीद है कि आप लोग डरना छोड़ देंगे। आपको पूर्वी बंगाल छोड़ने की बात नहीं सोचनी चाहिए। वहीं आपको मरना चाहिए और जरूरत पड़ने पर बहादुर मर्दों और औरतों की तरह आबरू की हिफाजत करते हुए मर जाना चाहिए। खतरे का सामना करने के बदले उससे दूर भागना उस श्रद्धा पर इनकार करना है, जो मनुष्य की मनुष्य पर, ईश्वर पर और अपने-आप पर रहती है। अपनी श्रद्धा का ऐसा दिवाला निकालने से बेहतर तो यह है कि इन्सान डूबकर मर जाय।"

अभय-प्रवर्तन

इस पर अधिक विवरण की जरूरत नहीं है। गांधीजी ने अपनी जिन्दगीभर अगर कोई एक सार्वजनिक काम किया है, तो यही कि लोगों को निर्भय बना दें। आश्रम के व्रतों में निर्भयता का एक स्वतन्त्र व्रत ही उन्होंने रखा। अगर निर्भयता नहीं है, तो मानव-जीवन में कोई सार ही नहीं रहता। यह कोई नया विचार

नहीं। सारी समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था का हेतु ही हमने लोगों में अभय-प्रवर्तन माना है। आजकल 'लॉ एण्ड ऑर्डर' कहते हैं, लेकिन हमारा शब्द था 'अभय'। जहाँ गांधीजी ने अभय-प्रवर्तन में अपने को नाकामयाब पाया, वहाँ उन्होंने 'रघुपति राघव राजाराम' की धुन चलायी। लेकिन सोचने की बात है कि 'अल्लाहो अकबर' और 'हर हर महादेव'—ये दोनों उद्घोष, जो कि मानो एक-दूसरे के तर्जुमे हैं और जो अल्लाह की तकबीर याने हर की महत्ता गाते हैं, भयापहारी होने के बदले क्यों भयकारी हो गये हैं ?

रामनाम के उत्तम शस्त्र को दृढ़ रखिये

"मुँह में ईश्वर का नाम रखना और हाथ से भाइयों का कतल करना" यह सिलसिला बीच के जमाने में इतना चला कि कुछ सज्जन तो ईश्वर के नाम से ही ऊब गये। कहने लगे : "हमें न ईश्वर चाहिए, न उसका नाम। हमारे लिए प्रेम बस है।" मैं उनसे कहता हूँ : आपको हारना नहीं चाहिए। जो हृदय में प्रेम रखना चाहते हैं, राम-नाम उन्हींका हथियार है। मानव-द्वेषियों का वह हथियार नहीं है। आपको अपना हथियार दुश्मनों के हाथ में नहीं सौंपना चाहिए। लोग वैराग्य का दुरुपयोग करते हैं, तो हम कहते हैं कि हमें वैराग्य नहीं चाहिए। लोग संन्यास का दुरुपयोग करते हैं, तो हम 'संन्यास' शब्द से घृणा करने लगते हैं। लोग भक्ति का दम्भ करते हैं, तो हम भक्ति से नफरत शुरू करते हैं। इस तरह एक-एक पवित्र शब्द और एक-एक उत्तम शस्त्र हम दूसरों को सौंप देते हैं, यह भी मुझे तो भयभीत दशा मालूम देती है। यह भय भी हमें छोड़ना चाहिए और अपने शस्त्रों को अपने हाथ में दृढ़ रखना चाहिए।

(२) विकार-मुक्ति

त्रिविध उपाय

अब दूसरी है विकार-मुक्ति याने काम-विजय, अथवा ब्रह्मचर्य-सिद्धि। यह तो एक पूर्ण साधना है, इसमें सब इन्द्रियों का संयम आ जाता है। विशेषतया स्वादेन्द्रिय-संयम या रसना को जीतना। निर्विकारता की एक विशेष साधना के तौर पर और उसकी सिद्धि की एक विशेष कसौटी के तौर पर रसना-जय की साधना परमार्थ-मण्डल में सर्वमान्य है। लेकिन, चूँकि रसना के विषय के साथ जीवन निगड़ित है, इसलिए अक्सर दूसरी इन्द्रियों के संयम का प्रयत्न करते हुए भी रसना को ढील दी जाती है। यह एक भारी गलती है, जिससे वासना-मूल का सिंचन हुआ करता है और वासना-वृक्ष ऊपर-ऊपर से शाखाओं के कटने पर भी अधिक प्रफुल्लित बनता है। इसलिए रसना-जय की आवश्यकता का भान करते हुए इस पुस्तक में उसके उपाय यों बताये हैं :

(अ) पहला स्थूल और सर्वसाधारण उपाय, मसाले वगैरह उत्तेजक पदार्थों का यथाशक्य सर्वथा त्याग करना।

(आ) अधिक बलवान् उपाय, हमेशा यह भावना बढ़ानी कि "भोजन हम स्वाद के लिए नहीं, बल्कि केवल शरीर-रक्षाभर के लिए करते हैं।" इसके लिए हवा और पानी का दृष्टान्त दिया है : "जैसे हवा हम स्वाद के लिए नहीं, बल्कि श्वास के लिए लेते हैं या पानी केवल प्यास बुझाने के लिए लेते हैं, वैसे खाना महज भूख बुझाने के लिए खाना चाहिए।"

ज्ञानदेव की सूत्ररूप भाषा में "साधक को प्राण-वृत्ति से जीना चाहिए, न कि वासना-वृत्ति से।" ज्ञानदेव ने इसका आख्यान यों किया है : "भोजन करने में न वासना चाहिए जिह्वा की तृप्ति की, नदेह को बलवान् बनाने की, न भूख की तकलीफ

मिटाने की, बल्कि केवल प्राण-धारण की; शरीर से साधना लेनी है, इसलिए उसको उतना आधार देने की।"

जिह्वा की तृप्ति का निषेध तो बापू ने बार-बार किया ही है, लेकिन देह को बलवान् बनाने की वासना का भी उन्होंने इस पुस्तक में एक जगह निषेध कर रखा है, जो बहुत ध्यान खींचनेवाला है। वे लिखते हैं :

"ज्यों-ज्यों आत्मा निर्विकार होती जाती है, त्यों-त्यों शरीर भी नीरोगी होता जाता है। लेकिन यहाँ नीरोगी शरीर के मानी बलवान् शरीर नहीं है। बलवान् आत्मा क्षीण शरीर में ही वास करती है। ज्यों-ज्यों आत्मबल बढ़ता है, त्यों-त्यों शरीर की क्षीणता बढ़ती है। पूर्ण नीरोगी शरीर बिलकुल क्षीण भी हो सकता है। बलवान् शरीर में बहुत अंश में रोग रहते हैं।"

यह एक विशेष विचार है। इसके तार्किक परीक्षण में हमें नहीं पड़ना चाहिए। लेकिन जब कि ज्ञानदेव जैसे ज्ञानी और बापू जैसे कर्मयोगी एक ही नतीजे पर पहुँचे हैं, तब उसके अनुकूल चिन्तन करके उसे अनुभव की कसौटी पर कसना चाहिए। भूख की तकलीफ मिटाने का निषेध भी ज्ञानदेव करते हैं। इसका अर्थ इतना ही समझना है कि किसी भी वृत्ति से अभिभूत होकर नहीं खाना चाहिए, बल्कि साधना-सिध्यर्थ शरीर को खिलाना हमने तय किया है, इसलिए खाना चाहिए। इस तरह त्रिविध वासना-वर्जित आहार-सेवन की वैज्ञानिक वृत्ति रसनाजय का दूसरा उपाय बताया है।

(इ) तीसरा उपाय बताया गया है, राम-नाम का, जिसे वे सर्वोत्तम उपाय या सुवर्ण-नियम कहते हैं :

"अपनी-अपनी भावना के अनुसार भगवान् के किसी भी नाम का जप किया जा सकता है। जप में हमें तल्लीन हो जाना चाहिए। जपते

समय दूसरे विचार आयें, तो परवाह नहीं। फिर भी यदि श्रद्धा रखकर हम जप करते रहेंगे, तो अन्त में सफलता अवश्य प्राप्त करेंगे।"

तीनों का संक्षेप : राम-नाम

सारांश, आहार-शुद्धि, वैज्ञानिक दृष्टि और नाम-स्मरण, ये तीन उपाय हुए निर्विकारता की प्राप्ति के। लेकिन तीनों का संक्षेप आखिर वे राम-नाम में ही करते हैं। कहते हैं :

"ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं, वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो राम-नाम ही है।"

फिर तौल सँभालकर कहते हैं :

"यह अचूक साधन पाने के लिए एकादश व्रत तो हैं ही, मगर कई साधन ऐसे होते हैं कि उनमें से कौन-सा सावन और कौन-सा साध्य है, कहना मुश्किल हो जाता है।"

इतना कहकर फिर से अपनी निष्ठा दृढ़ करते हैं :

"संयम का सुनहला रास्ता और उसकी अमर रक्षा राम-नाम ही है।"

ये शब्द पढ़कर मुझे याद आया, बचपन में कण्ठ कराया गया 'राम-रक्षा-स्तोत्र'। अद्‌भुत है उस स्तोत्र की कल्पना।

(३) रोग-मुक्ति

विकार-मुक्ति का बाह्य प्रकाश

अब राम-नाम से रोग-मुक्ति। इस पुस्तक का आधे से अधिक हिस्सा इसीने लिया है। उससे चित्त पर यह असर नहीं होना चाहिए कि यही नाम-स्मरण का सर्वोत्तम लाभ है। इस विषय का इतना विस्तार इसलिए हुआ है कि गरीबों के लिए कुदरती

इलाज ढूँढ़ते हुए बापू को यह सूझा है। और उस प्रचार में वे लगे हुए थे, इसलिए इस पर इन दिनों वे हमेशा बोलते रहे :

"राम-नाम सब जगह मौजूद रहनेवाली रामबाण दवा है, यह शायद मैंने पहले-पहल उरली-कांचन में ही साफ-साफ जाना था।"

जिस चीज का जब दर्शन हुआ, तब उसका वे इजहार करते गये। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि रोग-मुक्ति को विकार-मुक्ति से वे पृथक् मानते ही नहीं हैं। उसे वे विकार-मुक्ति का ही एक बाह्य प्रकाश समझते हैं। उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा है कि "निर्विकार को रोग हो ही नहीं सकते।" इसमें मतभेद की भी गुंजाइश हो सकती है और महापुरुषों के दृष्टान्त देकर आक्षेपकों ने इस पर आक्षेप किये भी हैं। तो उसका नम्रतापूर्वक जवाब दिया गया है :

"कुदरत के नियम महापुरुषों पर भी लागू हैं।"

मन की दुर्बलता

अपने बारे में बापू (सन् १९२४ में) लिखते हैं :

"मेरे विचार के विकार क्षीण होते जा रहे हैं, फिर भी उनका नाश नहीं हो पाया। यदि मैं विचारों पर भी पूरी विजय पा सका होता, तो पिछले दस वर्षों में जो तीन रोग* मुझे हुए, वे कभी न होते।"

फिर दुबारा लिखते हैं :

"मैं मानता हूँ कि मेरी अपेंडिसाइटिस की बीमारी मेरे मन की दुर्बलता का फल थी और नश्तर लगवाने के लिए तैयार हो जाना भी वही मन की दुर्बलता थी। यदि मेरे अन्दर अहंकार का पूरा अभाव होता, तो मैंने अपने को होनहार के सुपुर्द कर दिया होता।"

यह पचास साल पहले का लेख है। अपनी मृत्यु के एक दिन पहले लिखे पत्र में वे कहते हैं :

---

* पसली का वरम, पेचिश और 'अपेंडिक्स' का वरम।

"इस बार किडनी और लिवर दोनों बिगड़े हैं। मेरी दृष्टि से यह राम-नाम में मेरे विश्वास के कच्चेपन की वजह से है।"

उनकी श्रद्धा

उनके साथ प्रथम संवाद में ही उनकी यह श्रद्धा मैंने सुनी थी। ७ जून १९१६ को मैं पहली बार उनके पास पहुँचा। तब अहमदाबाद के नजदीक कोचरब में आश्रम चलता था। वे तरकारी काटने बैठ गये और मुझे उन्होंने उस रोज उस काम की दीक्षा दी। फिर जो संवाद हुआ, उसमें मेरी प्राथमिक जानकारी हासिल करने के बाद उन्होंने अपने कुछ विचार मेरे लिए प्रकट किये। उनमें, पूर्ण निर्विकार पुरुष शरीर से भी नीरोग होना ही चाहिए, यह अपनी श्रद्धा उन्होंने दरशायी थी और वह फौरन् मेरे गले उतर गयी।

गीता का आदर्श पुरुष

इसका कारण शायद यह हो कि मैं बचपन से गीता का उपासक था और गीता ने मुझे इस श्रद्धा के ग्रहण के लिए तैयार किया था। केन्द्रच्युत एकांगी विकास का आदर्श गीता में नहीं। गीता का आदर्श पुरुष परिपूर्ण विकसित, केन्द्र में स्थित और सब तरह से अनुकरणीय है। उसका बोलना, बैठना, घूमना, खाना, पीना, सोना, सब यथाशास्त्र हुआ करता है। यह नहीं कि वह उस-उस विषय के शास्त्रों का अध्ययन किये हुए होता है, लेकिन उसको वह सहज ही सूझता है, क्योंकि उसने ऐसी एक चीज हासिल की है, ऐसा एक दर्शन पाया है, जिसके पेट में पारमार्थिक जीवन के लिए जरूरी सभी ज्ञान भरे हैं। उसके लिए जानने का कुछ शेष नहीं रहता।

संग्रहणीय श्रद्धा

जहाँ परमेश्वर का नाम, वहाँ निर्विकारता; जहाँ निर्दिकारता, वहाँ पूर्ण आरोग्य—यह एक ऐसी श्रद्धा है, जिसका हमें अवश्य संग्रह करना चाहिए। इसको मैं श्रद्धा कहता हूँ, विचार नहीं कहता। लेकिन इसके पीछे विचार है और गीता ने वह सुझाया भी है। निर्विकारता तो तब आती है, जब सत्त्व-गुण का उत्कर्ष कर मनुष्य उससे भी निर्लिप्त रहने लगे। सत्त्व-गुण अत्यन्त निर्मल होने के कारण उससे ज्ञान और आरोग्य, ये दो परिणाम निष्पन्न होते हैं: "प्रकाशकम्, अनामयम्।" अक्सर आम ख्याल यह है कि सत्त्वगुणी मनुष्य चरित्रवान् होगा, नीतिवान् होगा, लेकिन वह बुद्धिमान् ही होना चाहिए, ऐसी अपेक्षा लोगों में नहीं है। वह बुद्धिमान् भी हो सकता है और बुद्धू भी, ऐसी लौकिक कल्पना है। वैसे ही सत्त्वगुणी मनुष्य लोक-विचार में रोगी भी हो सकते हैं, नीरोगी भी और वैसा हम दुनिया में देखते भी हैं। कई अच्छे-अच्छे सज्जन मन्दबुद्धि भी होते हैं, रोगी भी होते हैं, लेकिन गीता की कल्पना ऐसी नहीं है। समझना चाहिए कि गीता एक शास्त्रीय व्याख्या दे रही है।

जहाँ रजोगुण और तमोगुण से वर्जित परिशुद्ध सत्त्वगुण होगा, वहां क्या होना चाहिए—यह जब सोचते हैं, तो गीता जो कहती है, उसी नतीजे पर आना पड़ता है। बिन्दु की व्याख्या जब करने बैठते हैं, तब उसे त्रिपरिमाण-रहित ही कहना पड़ता है। फिर ऐसा बिन्दु कहीं देखने में न आये, यह दूसरी बात है। अज्ञान भी एक मल है, रोग भी मल है। तो शुद्ध सत्त्व-गुण, जिसकी व्याख्या ही निर्मलता है, इन मलों को कैसे सहन करेगा?

लेकिन, चूँकि अन्तिम अवस्था गीता ने इन तीनों गुणों से परे बतायी है, इसलिए कुछ विचारक, जो सत्त्व-गुण के साथ आरोग्य

की अनिवार्यता मान्य करते हैं, गुणातीत अवस्था में उसकी अनिवार्यता उतनी मान्य नहीं करते और "चाहे प्रकाश आ जाय, प्रवृत्ति आ जाय, मोह आ जाय, गुणातीत उससे चलित नहीं होता"—इस गीता-वचन का वे आधार लेते हैं। लेकिन मेरी नम्र राय में गीता का भाव समझने में यहाँ गलती हो रही है।

गुणातीत अवस्था सत्त्व-संशुद्धि के बाद ही प्राप्त होती है। अगर यह बात ठीक है, तो उस व्यवस्था में सत्त्व-संशुद्धि से कुछ अधिक होना चाहिए, कम होने का कारण नहीं। अधिक तो यही कि उसमें सत्त्व-गुण का भी अहंकार मिट जायगा, तो उसका भान भी द्रष्टा को नहीं रहेगा। लेकिन इसके आगे तर्क करना मैं पसन्द नहीं करूँगा। इसलिए मैंने आरम्भ में ही कह दिया कि इसका मैं श्रद्धा के रूप में ही संग्रह करना चाहता हूँ। इस श्रद्धा ने मुझे बहुत आश्वासन दिया है, इसलिए भी मुझे वह प्रिय हो गयी है।

'स्वस्थ' के लक्षण

इस विषय में एक ही बात और जोड़ना चाहता हूँ। संस्कृत में आत्मनिष्ठा का और पूर्ण आरोग्य का निर्देश 'स्वस्थ'—इस एक ही शब्द से किया जाता है और स्वस्थ पुरुष के जो लक्षण गीता में दिये हैं, 'चरक-संहिता' में वैसे ही पाये जाते हैं।

एक विशेष भाव

लेकिन आत्मिक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य के साहचर्य का जिक्र करते हुए इस पुस्तक में दो-तीन जगह एक विशेष भाव प्रकट हुआ है, जो गहरे विचार में ले जाता है :

"मैंने जो देखा और धर्मशास्त्र में पढ़ा है, उसके आधार पर इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जब मनुष्य में उस अदृश्य शक्ति के प्रति पूर्ण

जीवित श्रद्धा पैदा हो जाती है, तब उसके शरीर में भीतरी परिवर्तन होता है। लेकिन यह सिर्फ इच्छा करने मात्र से नहीं हो जाता। इसके लिए सावधान रहने और अभ्यास करते रहने की जरूरत रहती है। दोनों के होते हुए भी ईश्वर-कृपा न हो, तो मानव-प्रयत्न व्यर्थ है।"

यह एक प्रेस-रिपोर्ट का सारांश है। इससे दो साल बाद के एक लेख में बापू ने इसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है :

"एक ज्ञानी ने तो मेरी बात पढ़कर यह लिखा है कि राम-नाम ऐसी कीमिया है, जो शरीर को बदल डालती है। वीर्य को इकट्ठा करना दबाकर रखे हुए धन के समान है। उसमें से अमोघ शक्ति पैदा करनेवाला तो राम-नाम ही है।·······राम-नाम के स्पर्श से वीर्य ऊर्ध्वगामी बनता है।"

दिव्य रूपान्तर

'ज्ञानी' नाम से यह किसका उल्लेख है, मैं नहीं जानता। पुस्तक की सूची में भी उसका सूचन या उल्लेख नहीं है। लेकिन शरीर के दिव्य रूपान्तर का यह दावा प्राचीन योग-साहित्य में पाया जाता है। आधुनिक जमाने में श्री अरविन्द घोष ने यह विचार उपस्थित किया है। उनकी विचार-श्रेणी की वह एक विशेषता मानी जाती है। योग-साहित्य के दावे में और बापू के कथन में साम्य-सा दीखता है। लेकिन दोनों में फर्क है, ऐसा मैं समझता हूँ। यौगिक क्रियाओं के बारे में बापू से पूछा भी गया, तो उसके उत्तर में उन्होंने कहा :

"योग की क्रियाएँ तो मैं जानता नहीं। मैं जो क्रिया करता हूँ, वह तो नाम-स्मरण है, जिसे मैंने बचपन में सीखा था। उसने मेरे मानसिक आकाश में अब विशाल रूप धारण कर लिया है। इस सूर्य ने घोर-से-घोर अन्धकार की घड़ी में मुझे प्रकाश प्रदान किया है।"

यह स्पष्टीकरण हमें बहुत आगे नहीं ले जाता। लेकिन योग-साहित्य और बापू के विचार में विभिन्नता है, इतना तो इस पर से मालूम ही होता है। मैं उस भिन्नता को इस तरह समझा हूँ: योग-साहित्य जिस दिव्य देह-परिवर्तन की बात करता है, वह एक प्रकार की सिद्धि है और बापू की कल्पना का दिव्य परिवर्तन परम शुद्धि और ईश्वरीय आविर्भाव का सहज परिणाम है। इसीका वर्णन ज्ञानदेव ने अपने एक अनुपम भजन में यों किया है:

"बुद्धि और बोध के बीच कई जन्मों का वियोग था, जो अब मिट गया है। दोनों का मिलाप हो चुका है, जिसके परिणामस्वरूप हाथ-पाँव भी सजीव हो गये हैं। सारी देह का दिव्य रूपान्तर हुआ है, मानो उसमें अमृत-कला भर गयी है।"

राम-नाम से रोग-मुक्ति का अर्थ यहाँ तक पहुँच जाता है। वह विकार-मुक्ति का एक पर्यायमात्र है।

राम-नाम का उपचार : ३ :

व्यावहारिक विनियोग

इस पुस्तक में तत्त्व-चिन्तन का मुख्यांश, जो मुझे प्रतीत हुआ, वह हम देख चुके—'राम-नाम से त्रिविध मुक्ति'। वह त्रिविध भी आखिर एकविध ही है। लेकिन तीनों के व्यावहारिक विनियोग अलग-अलग होते हैं, इसलिए मैंने त्रिविध विभाजन उपयुक्त समझा है। इसमें से रोग-मुक्ति का व्यावहारिक विनियोग इस पुस्तक में कुछ विस्तारपूर्वक बताया गया है। उसीको अब हम देखेंगे।

मुलायम भूमिका

जहाँ तत्त्व-विचार से हम व्यावहारिक विनियोग में उतरते हैं, वहीं बापू की भूमिका कुछ मुलायम हो गयी है। वे लिखते हैं :

"राम-भक्त कुदरत के कानून पर चलेगा, इसलिए उसे किसी तरह की बीमारी होगी ही नहीं। होगी भी, तो वह उसे पंचमहाभूतों की मदद से अच्छी कर लेगा। किसी भी उपाय से भौतिक दुःख दूर कर लेना, जो शरीर को ही आत्मा नहीं मानते, उनका काम नहीं है। आत्मा को पृथक् जाननेवाला शरीर के जाने से घबराता नहीं, दुःखी नहीं होता और सहज ही उसे छोड़ देता है। वह देहधारी डॉक्टर-वैद्यों के पीछे नहीं भटकता।"

तीन विचार

अब इसमें, एक के पीछे एक, तीन विचार दरशाये गये हैं :

१. भक्त को बीमारी नहीं होगी।

२. होगी भी, तो वह आहारादि-परिवर्तन से दुरुस्त कर लेगा।

३. अगर दुरुस्त न हो सका, तो शान्ति से देह छोड़ेगा।

इस पर विवरण की जरूरत नहीं। व्यावहारिक विनियोग में विचार की निरपवाद-दृढ़ता का सौम्य रूपान्तर स्पष्ट है।

इलाज से भी बड़ा चमत्कार

उरली-कांचन के व्याख्यान से यह अधिक स्पष्ट हो जायगा :

"कुछ बीमारियाँ तो ऐसी हैं, जिनका इस दुनिया में कोई इलाज ही नहीं है। जैसे, अगर शरीर का कोई अंग खंडित हो गया हो, तो उसे फिर से पैदा कर देने का चमत्कार राम-नाम में कहाँ से आये? लेकिन उसमें इससे भी बड़ा चमत्कार कर दिखाने की ताकत है। अंग-भंग या

बीमारियों के बावजूद सारी जिन्दगी अथक शान्ति के साथ बिताने की शक्ति राम-नाम देता है और मौत के दुःख और चिता की विजय के डर को मिटा देता है। यह क्या कोई छोटा-मोटा चमत्कार है ?"

बुद्धिवादी का समाधान

राम-नाम लेनेवाला बीमार ही न पड़े, इसमें जो चमत्कार है, उसकी तुलना में वह बीमारियों के बावजूद शान्त रहेगा, यह चमत्कार कम दरजे का है, ऐसा मैं भी नहीं मानूँगा। उलटे, उससे नाम-गौरव एक दूसरी तरह से विशेष प्रकट दीखेगा, ऐसा भी मान सकते हैं। व्यावहारिक चमत्कार करने की राम-नाम की शक्ति की जो मर्यादा इसमें मान ली है, वह शायद तुलसीदास न मानते। लेकिन इसी कारण यह पुस्तक बुद्धिवादी मन को भी समाधान दे सकती है।

साधना की निशानी

सारांश, राम-नाम का उपचार बताने में यहाँ केवल भावनामय कल्पना-शक्ति से काम नहीं लिया है; लेकिन विचार व्यवहार में किस तरह लाया जा सकता है, इसका पूरा ध्यान रखा गया है। यद्यपि राम-नाम के साथ कुदरती इलाज को जोड़ दिया है, तो भी इस विचार-श्रेणी को मैं 'कुदरती उपचार' नहीं, 'राम-नाम का उपचार' ही कहूँगा। बापू की भाषा से भी यह स्पष्ट हो जाता है। एक जगह वे लिखते हैं :

"कुदरती उपचार का उपयोग राम-नाम का पूरक नहीं, पर राम-नाम की साधना की निशानी है। राम-नाम को इन मददगारों की जरूरत नहीं, लेकिन इसके बदले जो एक के बाद दूसरे हकीमों के पीछे दौड़े और राम-नाम का दावा करे, उसकी बात जँचती नहीं।"

दूसरी जगह एक पत्र में वे लिखते हैं :

"कुदरती इलाज हमें ईश्वर के ज्यादा नजदीक ले जाता है। अगर हम उसके बिना भी काम चला सकें, तो मैं उसका कोई विरोध नहीं करूँगा।"

एक तीसरी जगह लिखते हैं :

"मैं उन माँ-बापों को जानता हूँ, जिन्होंने अपने बच्चों के रोगों के बारे में लापरवाही की है और यहाँ तक समझ लिया है कि हमारे राम-नाम लेने से ही वे अच्छे हो जायँगे।"

यह तो एक आखिरी दरजे का कथन हुआ। मतलब इसका यही कि कुदरती उपचार के नाम से आजकल जो बहुत सारा फिजूल और खर्चीला तंत्र खड़ा करते हैं, उससे भी राम-नाम का उपचार मुक्त है।

उपचार के तीन सूत्र

बापू ने अपने इस उपचार के बारे में जो चीजें तफसील में समझायी हैं, उन सबका सार मैं तीन सूत्रों में रखूँगा :

१. देह की अधिक आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। उससे हम देह को चाहे परिपुष्ट रख भी सकें, आत्मा को क्षीण करते हैं। बाज दफा तो उससे हम देह की भी हानि करते हैं।

२. गरीबों से एकरूप हो जाना चाहिए। कम-से-कम बीमारी की हालत में तो अपने लिए मर्यादा-सी बाँध लेनी चाहिए कि जो उपचार करोड़ों गरीब कर ही नहीं सकते, उसकी आशा छोड़नी होगी।

३. आसपास की सृष्टि को हमें अपना दुश्मन नहीं, बल्कि मित्र समझना चाहिए। सृष्टि से डरना नहीं चाहिए। प्रकाश, हवा, धूप वगैरह की खुले दिल से पूरी सहायता लेनी चाहिए।

इन तीन सूत्रों को हम ध्यान में रखेंगे, तो पुस्तक का सारा विवेचन सहज ग्रहण कर सकेंगे।

बिखरी हुई सूचनाएँ

अब पढ़िये कुछ बिखरी हुई सूचनाएँ :

"मेरे कुदरती इलाज में खुर्दबीन, एक्स-रे वगैरह की कोई जरूरत नहीं।"

"उसमें कुनैन, पेनिसिलीन जैसी दवाइयों की गुंजाइश नहीं।"

"हमेशा कुदरती इलाज करनेवाले की राय लेने की जरूरत भी नहीं रहनी चाहिए।"

"कुदरती इलाज सीखने के लिए यह बिलकुल जरूरी नहीं कि शरीर-शास्त्र सीखा हो जाय।"

"मोसम्बी खाना उपचार का अंग नहीं।"

ऊपर की त्रिसूत्री हृदयंगम हो जाय, तो ये सारे विचार हजम हो सकते हैं। इन सबका सिर्फ अक्षरार्थ नहीं, भावार्थ लेना है। कहा ही है : "अक्षर मारता है, भाव तारता है।"

जीवन-चर्या

इन सबका थोड़े में मतलब जीवन-परिवर्तन है :

(अ) हमेशा शुद्ध, स्वच्छ, युक्त और मित आहार और विशेष प्रसंगों में अल्प आहार और निराहार।

(आ) देह, वाणी, मन की शुद्धि और आसपास के सब वातावरण की स्वच्छता।

(इ) कुदरत पर प्यार और उसका उन्मुक्त सेवन।

(ई) योग्य परिश्रम और विश्राम की व्यवस्था।

(उ) अपने को देह से भिन्न जानना, प्राणिमात्र की सेवा में लग जाना और विशुद्ध चित्त से परमेश्वर का निरन्तर स्मरण करना।

यह है जीवन-चर्या। इसीको 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। यही राम-नाम का उपचार है।

●

त्रिविध चिन्ता   : ४ :

वैष्णवादि भक्तों ने जिस निष्ठा से राम-नाम की महिमा गायी है, वही निष्ठा इस पुस्तक के पन्ने-पन्ने में दीख पड़ती है। फिर भी दोनों में एक बड़ा फर्क है। उसकी थोड़ी चर्चा हम यहाँ कर लेंगे। फर्क यह है कि भक्तों का नाम-प्रचार स्वच्छन्द, स्वैर और सर्व-चिन्ता-विमुक्त था। लेकिन इनके नाम-प्रचार के पीछे तीन चिन्ताएँ लगी हुई हैं। क्रमवार हम उनको देखेंगे।

पहली चिन्ता : सकामता

पहली चिन्ता यह है कि राम-नाम सकामता के साथ जुड़ न जाय। वे लिखते हैं :

"ऐसे पवित्र मन्त्र का उपयोग किसीको आर्थिक लाभ के लिए हरगिज नहीं करना चाहिए।...बहुत-से स्थानों में केवल आडम्बर के लिए, कुछ स्थानों में अपने स्वार्थ के लिए, इसका जप होता हुआ हमने देखा है।"

कथन के दो प्रकार

भक्तों ने तो यहाँ तक कहा था कि नाम-स्मरण चाहे व्यक्ति-गत स्वार्थ के लिए ही क्यों न किया जाय, कुछ-न-कुछ कल्याण ही करेगा। मैं दोनों भाषाओं का रसास्वादन कर लेता हूँ। एक है बुद्धियुक्त तत्त्वार्थ-कथन, जो विश्लेषण की चिन्ता रखता है। दूसरा है, भावनामय अर्थवाद, जो सुननेवाले में कुछ अक्ल मान लेता है। गीता ने दोनों भाषाओं का उपयोग किया है, फिर भी उसको निष्कामता का ही विशेष आग्रह रहा है।

निष्काम ईश्वर-भक्त

यहाँ गीता की थोड़ी चर्चा कर लूँगा। उसमें कुछ विषयान्तर हो जाय, तो मेरी गीता-भक्ति ध्यान में लेकर पाठक मुझे माफ करेंगे।

गीता के सातवें अध्याय में आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी,—ऐसे तीन भक्त गिनाये हैं, जिन्हें बहुत-से टीकाकारों ने 'सकाम भक्त' मान लिया है। मुझे यह बात जँची नहीं, क्योंकि इन तीनों को गीता ने 'उदार' संज्ञा दी है, जो कृपण की विरोधी है। और 'कृपणाः फलहेतवः'— इस वचन में कृपण याने सकाम, ऐसी स्पष्ट सूचना दी है। अर्थात् ये तीनों भक्त निष्काम ही हैं। लेकिन वे एकांगी हैं और ज्ञानी सर्वांगी होता है। आर्त याने रोग-पीड़ित और रोग-मुक्ति चाहनेवाला नहीं, आर्त याने भावप्रधान भक्त। जिज्ञासु याने केवल स्थूल उत्सुकता (क्यूरिऑसिटी) रखनेवाला नहीं, बल्कि बुद्धि से ईश्वर-तत्त्व को जानने की कोशिश करनेवाला। अर्थार्थी याने पैसा चाहनेवाला नहीं, बल्कि सर्वभूत-हितार्थी, कर्मप्रधान। इसकी अधिक चर्चा मैं यहाँ नहीं करूँगा। मैंने 'गीता-प्रवचन' में इसका विस्तार से विवेचन किया है। जिज्ञासु उसे देख सकते हैं। गीता में मान्य किये हुए तीनों और चारों भक्त मेरे अभिप्राय में पूर्ण निष्काम हैं।

सकाम देवता-भक्त

गीता ने सकाम भक्तों का इससे भिन्न वर्ग किया है और यद्यपि उसने उनको मान्यता नहीं दी है, बल्कि दूषण ही दिया है; फिर भी कुछ अनुकम्पा उनके लिए रखी है। उनका जिक्र उसी अध्याय में 'भिन्न-भिन्न देवताओं के पीछे दौड़नेवाले कामना-ग्रस्त' के नाम से किया है।

जो कामना-ग्रस्त हैं, वे अन्य देवता-भक्त ही होते हैं। फिर

भले ही वे ईश्वर का नाम लेते हों। एक भाई से चर्चा चल रही थी। वे बोले : "इस्लाम ने एक-परमेश्वर की निष्ठा बढ़ाकर अनेक देवताओं का निरसन किया, यह एक भारी काम किया।" मैंने कहा : "यह मैं भी मानता हूँ, लेकिन यह मत समझो कि अल्लाह का नाम लेनेवाले निश्चय ही एक-परमेश्वर के भक्त होते हैं। जो अल्लाह से धन माँगता है, वह लक्ष्मीदेवी का ही उपासक है। 'हे लक्ष्मीदेवी, तेरी कृपा मुझ पर रहे'—ऐसी प्रार्थना करनेवाला हिन्दू और 'ऐ अल्लाह ! मुझे दौलत दे'—ऐसी दुआ मांगनेवाला मुसलमान, दोनों एक ही सम्प्रदाय के उपासक हैं। इससे उलटे, जो लक्ष्मी-देवी का नाम लेता होगा, लेकिन उससे चित्त-शुद्धि या मनःशान्ति की ही अपेक्षा करता होगा, वह एक-परमेश्वर का उपासक है। इतना ही नहीं, जो लक्ष्मी, शक्ति, सरस्वती आदि अनेक देवताओं की प्रार्थना करता होगा और सबसे सिवा चित्त-शुद्धि के और कुछ नहीं मांगता होगा, जैसा तुलसीदासजी ने 'विनय-पत्रिका' में किया है, वह भी एक-परमेश्वर का उपासक है, और उतने सारे विविध नाम लेकर भी राम-नाम ही लेता है।"

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

—"कर्मों के फल को चाहनेवाले अन्य देवताओं के उपासक होते हैं"—इस वाक्य में गीता ने यह विचार विशद किया है।

राम-नाम दूषित होगा

राम-नाम हम लेते जायँ और भिन्न-भिन्न कामनाएँ रखते जायँ, फिर चाहे वे कामनाएँ फलित भी हों, इससे राम-नाम दूषित होगा। यह अन्य देवता-नाम बन जायगा और कभी तो वह रावण-नाम में भी परिवर्तित हो जायगा, यह चिन्ता इस पुस्तक में पदे-पदे दीख पड़ती है, जो सर्वथा योग्य ही है।

एकांतिक अर्थ न करें

लेकिन जो मनुष्य चालू प्रवाह के अनुसार डॉक्टरी इलाज करवाता होगा, वह राम-नाम लेने का अधिकारी नहीं, ऐसा इसका एकांतिक अर्थ मैं नहीं करूँगा और न बापू की भी वैसी मन्शा हो सकती है।

मुझे बचपन का एक किस्सा याद आ रहा है। बचपन में मैं बहुत रोगग्रस्त रहता था और डॉक्टरी दवाएँ मुझे दी जाती थीं। माँ, दवा पीते समय, बोलने के लिए कहती : **औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः** । वैसा ही मैं बोलता था। लेकिन एक दिन उसके अर्थ का खयाल आया और मैंने माँ से कहा : "इसका अर्थ तो मुझे यह दीखता है कि गंगा-जल को औषध समझो और भगवान को वैद्य।" तो वह बोली : "यह अर्थ तो ठीक है, लेकिन इसके लिए वैसी योग्यता चाहिए। तेरे और मेरे लिए इसका दूसरा अर्थ है।"

मैंने पूछा : "कौनसा ?"

उत्तर : "डॉक्टर को भगवान् समझो और जो भी औषध वह देगा, उसे गंगा-जल समझो।"

मुझे माँ की यह बात उस भूमिका पर आज भी जँचती है।

लेकिन इस वाक्य का एक तीसरा भी अर्थ मुझे परसों ही एक वैद्य ने सुनाया। उसने कहा : "यह तो रोग असाध्य हो जाय, तब का वचन है।" मैंने यह भी अर्थ कबूल कर लिया, क्योंकि मरते दम तक औषध पिलानेवाले और पीनेवाले हम रोज देखते हैं। मरने के बाद औषध नहीं पिलाते, इतनी मेहरबानी है। लेकिन मुझे डर है कि आगे जाकर वह मर्यादा भी टूट जाय, क्योंकि मरे हुए को भी जिन्दा करने का प्रयोग अभी वैद्यक-शास्त्र सोच रहा है।

एक निसर्गोपचारक ने मुझसे कहा : "यह वाक्य दैव-शरणता

नहीं, बल्कि निसर्गोपचार बता रहा है।" इसका अर्थ यह है कि "दवाइयाँ मत लो, जलोपचार करो और नारायण हरि को याने सूर्यनारायण को वैद्य समझते रहो। अर्थात् उसकी किरणों का यथाशास्त्र सेवन करो।" यह भी मैंने मान लिया। लेकिन इससे मैंने समझ लिया कि 'राम-नाम-उपचार' निसर्गोपचार से भी भिन्न है।

स्वरूपावस्थान कामना नहीं

यहाँ कोई पूछेगा : "आप नाम के साथ निसर्गोपचार जोड़ भी देते हैं और उससे उसको अलग भी कर देते हैं। नाम के साथ सकामता को दूषण भी देते हैं और आरोग्य की कामना भी रखते हैं, यह सब क्या है?" इसका जबाब यही है कि नाम-स्मरण से आरोग्य की अपेक्षा इसलिए रखी जाती है कि आत्मा स्वरूपतः रोग-रहित है। इसलिए रोग-रहित रहने की अपेक्षा का अर्थ 'स्वरूपावस्था में रहना' इतना ही होता है। इसलिए इस अपेक्षा की गिनती कामना में नहीं करनी चाहिए। आत्मा रोग-रहित है, वैसे ही देह-रहित भी है। इसलिए नाम-स्मरण करते हुए देह या शरीर छूट जाय, तो भी हर्ज नहीं है। उस तरह शान्तिपूर्वक शरीर छूटना नामोपचार की निष्फलता नहीं, बल्कि सफलता ही होगी। नाम-स्मरण के साथ निसर्गोपचार को इसलिए जोड़ते हैं कि निसर्गोपचार से मतलब युक्ताहार-विहारादि जीवन-चर्या से है। राम-नाम के साथ उसको नहीं जोड़ते, तो अयुक्त आहार-विहार को जोड़ना पड़ेगा, जो विपरीत वर्तन होगा। निसर्गोपचार से राम-नाम को अलग भी करते हैं, क्योंकि निसर्गोपचार का आजकल एक बहुत लम्बा-चौड़ा, कभी-कभी तो दवाइयों से भी ज्यादा खर्चीला ढोंग-सा बना रखा गया है।

दूसरी चिन्ता : वहम का डर

यह एक चिन्ता हुई। राम-नाम के मुक्त प्रचार में दूसरी चिन्ता, जो इस पुस्तक में बहुत ही दीख पड़ती है, वह है, 'वहम' के प्रचार की। राम-नाम को उपचार के तौर पर जब बापू ने लोगों के सामने पेश किया, तो लोगों ने उन पर प्रश्नों की बौछार करनी शुरू कर दी। किसी ने पूछा : "हम मेरीअम्मा देवी की पूजा करते हैं और बहुत-से रोग अच्छे हो जाते हैं। क्या वैसी ही बात आप कर रहे हैं ?"

"जहाँ तक पेट-दर्द की बात है, बहुत-से लोग तिरुपति में देवी की मिन्नतें मानते हैं। अच्छे होने पर उस मूर्ति के हाथ-पाँव धोते हैं और दूसरी मानी हुई मिन्नतें पूरी करते हैं। कृपा करके इस बात पर रोशनी डालिये।"

कुदरत की करतूत

बापू इसका जवाब देते हैं :

"जो मिसालें ऊपर दी गयी हैं, वे न तो कुदरती इलाज की हैं, न राम-नाम की। उनसे यह पता जरूर चलता है कि कुदरत बहुत-से रोगियों को बिना किसी इलाज के भी अच्छा कर देती है।"

तुलना के लिए दो की जरूरत

यह उत्तर पढ़कर मुझे सुकरात का किस्सा याद आया। किसी मन्दिर की मूर्ति के दर्शन से लोगों के रोग दुरुस्त हो जाते हैं, ऐसा दावा किया जाता था और वैसे दुरुस्त हुए लोगों के नाम उस मन्दिर में लिखे हुए थे। सुकरात को वे बताये गये। वे बोले :

"इसके साथ दूसरी फेहरिस्त उन नामों की भी चाहिए थी, जो दुरुस्त नहीं हुए। तब दोनों की तुलना करके तारतम्य का पता चलता।"

शुद्ध विचार का आरोग्य पर प्रभाव

आगे बापू लिखते हैं :

"राम-नाम तो वहम का दुश्मन है। वह विश्वास-चिकित्सा से भिन्न वस्तु है। अगर मैं ठीक समझा हूँ, तो विश्वास-चिकित्सा में यह माना जाता है कि रोगी अंधविश्वास से अच्छा हो जाता है। यह मानना तो जीवित ईश्वर के नाम की हँसी उड़ाना है। राम-नाम सिर्फ कल्पना की चीज नहीं है। परमात्मा में ज्ञान के साथ विश्वास हो और उसके साथ-साथ कुदरत के नियमों का पालन किया जाय, तभी किसी दूसरी मदद के बिना रोगी अच्छा हो सकता है। अगर कोई अपने अन्दर परमात्मा को पहचान ले, तो एक भी गन्दा या फिजूल ख्याल मन में नहीं आ सकता। जहाँ विचार शुद्ध हो, वहाँ बीमारी आ ही नहीं सकती।"

जाहिर है कि बापू का यह राम-नाम शुद्ध बुद्धिवाद से जरा भी विसंगत नहीं है।

गणित का सूत्र

दूसरी जगह बापू ने इसे और साफ किया है :

"राम-नाम कोई जादू-टोना नहीं है। राम-नाम गणित का एक ऐसा सूत्र या फारमूला है, जो थोड़े में बे-हिसाब खोज और तजुर्बे को जाहिर कर देता है।"

सांख्यशास्त्र

मेरी गणित-प्रेमी बुद्धि इस वाक्य से प्रसन्न हो रही है। योग और गणित एक ही वस्तु के दो पहलू और दो नाम हैं। जेम्स जीन्स नामक एक गणितज्ञ ने 'मिस्टीरिअस यूनिवर्स' याने 'गूढ़ विश्व' नाम की एक सुन्दर किताब लिखी है, जिसमें उसने परमेश्वर की गणित-बुद्धि का वर्णन किया है। हमारे लिए यह नयी बात नहीं है। हमने तो सारे सृष्टि-शास्त्र को 'सांख्य' नाम

दे रखा है। सांख्य का सरल अर्थ है, संख्या-शास्त्र। आत्मज्ञान को भी सांख्य कहते हैं, क्योंकि चित्त के हरएक व्यापार का उसमें 'संख्यान' याने हिसाब और परीक्षण करना पड़ता है। सांख्य और योग, दोनों गणित हैं। सांख्य है शुद्ध गणित (प्योर मैथेमेटिक्स) और योग है, उसका विनियोग, याने व्यावहारिक गणित (अप्लाइड मैथेमेटिक्स)।

नास्तिकता के लक्षण

लेकिन दुःख की बात है कि सारे मुक्ति-पन्थ तरह-तरह के वहमों से भरपूर हैं। जब मैं 'कुरान' का अभ्यास करता था, तो हरएक कुरान की प्रस्तावनाएँ कुतूहल से पढ़ता था, ताकि कुरान के बारे में कुछ बाहरी प्रकाश मिले। लेकिन कई प्रस्तावनाओं में रोग-निवारण के मान्त्रिक उपचार ही देखे। पेट दुखता हो, तो फलानी सूरत की फलानी आयत कागज पर लिखो। उस कागज को जलाकर उसकी भस्म शरीर पर लगाओ या उसे पानी में घोलकर पी जाओ। सिर दुखता हो, तो किसी दूसरी आयत का नुस्खा करो। ऐसे अनेक नुस्खे 'मटेरिया मेडिका' की शैली में दिये रहते थे। सप्तशती, ग्रंथसाहिब, तुलसी-रामायण, मराठी गुरु-चरित्र आदि कई ग्रन्थों का यही हाल है। रोज शनि-माहात्म्य का पाठ, देवी-देवताओं की मनौतियाँ या ईश्वर के नाम से ही सही, लेकिन बुद्धिहीन और चित्त-शुद्धि के साथ यत्‌किंचित् भी सम्पर्क न रखनेवाले कई तरह के प्रयोग किये जाते हैं। हिन्दू-धर्म को इस अन्धश्रद्धारूप नास्तिकता से छुड़ाने का सबसे श्रेष्ठ प्रयत्न जहाँ तक मैं जानता हूँ, शंकराचार्य ने किया था। कर्म-काण्ड का उनके द्वारा किया हुआ घोर विरोध इसी वजह से था। वे जड़ श्रद्धा का उन्मूलन करना चाहते थे। उनके महान् प्रयत्नों के बावजूद वह समाज में से निर्मूल नहीं हो सकी है।

बापू ने यही काम इस पुस्तक में किया है। राम-नाम की ज्वलन्त निष्ठा से भरी इस पुस्तक में वहमों से झगड़ने में और राम-नाम को उनसे पृथक् बताने में उनकी आधी शक्ति खर्च हुई है। "नाम-स्मरण को जंतर-मंतर की शकल देकर लोगों को वहम के कुएँ में ढकेला गया है", इसका तीव्र विरोध वे जगह जगह कर रहे हैं। एक जगह यहाँ तक कह गये हैं कि "इसीलिए मैं राम-नाम के प्रचार से डरता हूँ।"

राम-नाम की मर्यादा

फिर वे राम-नाम की भी मर्यादाएँ गिनने लगे। वे लिखते हैं :

"बादी का इलाज प्रार्थना नहीं, उपवास है। उपवास का काम पूरा होने पर ही प्रार्थना का काम शुरू होता है। गोकि यह सच है कि प्रार्थना से उपवास का काम आसान और हलका बन जाता है।"

"दिल से भगवान् का नाम लेनेवाले मनुष्य का यह फर्ज हो जाता है कि वह कुदरत के उन नियमों को समझे और उनका पालन करे, जो भगवान् ने मनुष्य के लिए बना दिये हैं।"

"अगर अपने विचारों पर आपका कोई काबू नहीं है और अगर आप एक तंग अँधेरी कोठरी में उसकी तमाम खिड़कियाँ और दरवाजे बन्द करके सोने में कोई हर्ज नहीं समझते और गन्दी हवा लेते हैं या गन्दा पानी पीते हैं, तो मैं कहूँगा कि आपका राम-नाम लेना बेकार है।"

ईसाई-विज्ञान

पश्चिम में ईसाई-विज्ञान नाम का एक विश्वास चलता है। वह मानता है कि "रोगमात्र पाप के परिणाम हैं और मृत्यु भी पाप के कारण ही होती है। इसलिए जो पूर्ण निष्पाप है, निर्विकार है, उसकी शारीरिक मृत्यु भी न होनी चाहिए।" बापू इस बारे में एक जगह कहते हैं :

"राम-नाम में ईसाई-विज्ञान का गुण होते हुए भी वह उससे बिलकुल अलग है। मेरा ईसाई-विज्ञान के साथ कोई झगड़ा नहीं है। मैं उस सिद्धान्त को पूरी तरह मान सकता हूँ।...पर ईसाई-विज्ञान ने शारीरिक स्वास्थ्य और रोगवाले प्रश्न को जो इतना अधिक महत्त्व दे रखा है, वह मेरी समझ में नहीं आता।"

यहाँ बापू का इशारा 'शारीरिक मरण भी पूर्ण निर्विकार को नहीं होना चाहिए", इस विश्वास की तरफ है।

लेकिन यह बात इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में कहने की जरूरत थी। वह नहीं हुआ है। उलटे दूसरी जगह नाम-महिमा की पुष्टि में ईसाई-विज्ञान का आधार-सा लिया गया है। कहा है :

"ईसाई-विज्ञान नाम का सम्प्रदाय बिलकुल यही नहीं, तो करीब-करीब इस तरह की (याने राम-नाम जैसी) बात कहता है।"

मुझे इस पुस्तक में यह कुछ गोलमाल-सा विवेचन मालूम हुआ है । ईसाई-विज्ञान के "सिद्धान्त को पूरी तरह मानना" और साथ ही उसमें से मुख्य बात ही "समझ में नहीं आना", राम-नाम को उससे "बिलकुल अलग कहना" और साथ ही उसको "करीब-करीब उसी तरह की बात" जाहिर करना, यह सब वस्तु का स्वच्छ दर्शन नहीं करा रहा है। किसी चीज के अच्छे अंश का अस्वीकार नहीं होना चाहिए। इस खयाल से यह सब हुआ है, यह मैं जानता हूँ। लेकिन यहाँ अधिक स्पष्टता की जरूरत थी। मेरा विचार मैं रख दूँ। "पूर्ण निर्विकार को शारीरिक मरण नहीं होना चाहिए", यह मूढ़ विश्वास की आखिरी हद है। तत्त्व-विचार तो यही कहेगा कि पूर्ण निर्विकार के लिए शरीर में रहना ही असंभव होगा। अगर प्रारब्धवशात् या दूसरी भाषा में विकार का कुछ निर्जीव-सा अंश रह जाने के कारण देह में रहना ही पड़ा, तो कम-से-कम उसको दूसरा

शरीर तो लेना नहीं पड़ेगा। स्थूल शरीर की आसक्ति ईश्वर-भक्त की विरोधी बात है और इसलिए शारीरिक अमरता की कल्पना मेरी नम्र राय में नास्तिकता ही है। ईसाई-विज्ञान अगर इस कल्पना को नहीं छोड़ेगा, तो वह न ईसाई रहेगा, न विज्ञान रहेगा। शारीरिक अमरता की आकांक्षा ने कीमिया को जन्म दिया, और कहते हैं केमिस्ट्री को भी जन्म दिया। शायद हमारे यहाँ यौगिक क्रियाओं को भी जन्म दिया होगा। लेकिन आत्मज्ञान को जन्म देने की शक्ति उसमें नहीं है।

आत्म-प्रयत्न की पराकाष्ठा

इस तरह दुनियाभर का भक्ति-मार्ग जड़-मूढ़ भावना से भरा देखकर समाजशास्त्री इस नतीजे पर आये कि "आदि-मानव के विज्ञान-रहित भयग्रस्त मानस में ही ईश्वर-कल्पना की निर्मिति हुई होगी।" वे मानते हैं कि "जैसे-जैसे विज्ञान का प्रकाश फैलेगा, ईश्वररूप अन्धकार मिट जायगा।" लेकिन ईश्वर अगर अन्धकार ही होता, तो उसका मिट जाना लाजिमी है और लाभदायी भी। जिन्होंने ईश्वर को आत्मा से अत्यन्त भिन्न, जगत् का निर्माणकर्ता, जगत् के बाहर किसी कोने में, सातवें या उनचासवें आसमान में बैठा मान लिया है, उनका ईश्वर जरूर खतरे में है। लेकिन वेदान्त ने ऐसे ईश्वर की कल्पना हमें नहीं सिखायी है। आत्मा का ही परम और स्वच्छतम रूप परमेश्वर है और 'ईश्वर-भक्ति' आत्म-प्रयत्न की पराकाष्ठा है। राम-नाम की श्रद्धा जब बापू हमारे सामने रखते हैं, तो उसमें उनकी यही दृष्टि है। इसलिए यद्यपि 'मूढ़ों और दाम्भिकों' से तंग आकर "राम-नाम के प्रचार से मैं डरता हूँ"—यहाँ तक उन्होंने कह डाला है, फिर भी वे उसका प्रचार करते ही रहे। वे लिखते हैं : "चाहे लोग दुरुपयोग करें, सच्ची बात को हम छिपा नहीं सकते।"

ईश्वर-भक्ति आत्म-प्रयत्न या हृदय-शुद्धि से भिन्न वस्तु नहीं है, बल्कि उसीकी पूरक है, यह उन्होंने इस तरह प्रकट किया है :

"यह कहना गलत न होगा कि अगर किसीका हृदय पवित्र है, तो उसकी सेहत राम-नाम न लेते हुए भी उतनी ही अच्छी रह सकती है। बात सिर्फ यह है कि सिवा राम-नाम के पवित्रता पाने का और कोई तरीका मुझे मालूम नहीं।"

साधना का विधायक रूप

आत्म-प्रयत्न से हृदय-शुद्धि करना ही मुख्य साधना है। उसके साथ ईश्वर-भक्ति को जोड़ने का अर्थ इतना ही होता है कि परम स्वच्छता का एक आदर्श, चिन्तन के लिए, हम अपने सामने रखते हैं। उससे साधना को विधायक रूप मिलता है और वह आसान होती है। अन्यथा आत्म-शुद्धि के प्रयत्न में, चाहे धोने के ख्याल से क्यों न हो, मलिनता से ज्यादा संबंध आता है। इससे साधना कुछ निषेधात्मक रूप पाती और मुश्किल बनती है। अलावा इसके, जैसे फेफड़ों के प्रयत्न को दुनिया में फैली हवा की मदद मिलती है, वैसे ही देहबद्ध आत्मा के प्रयत्न को देहमुक्त विश्वरूप परमात्मा की मदद मिलती है, यह अनुभवसिद्ध बात है।

आत्म-शोधन की प्रक्रिया

सारांश, राम-नाम आत्म-शोधन की प्रक्रिया है, न कि मूढ़-विश्वास से काल्पनिक देवी-देवताओं को या आत्मा से अत्यन्त भिन्न किसी सर्वाधिकारी परमेश्वर को फुसलाने की।

तीसरी चिन्ता : मौखिकता

तीसरी चिन्ता इस पुस्तक में यह है कि राम-नाम केवल मौखिक न रह जाय। राम-नाम केवल शब्द नहीं है। वह तो एक

परम सूक्ष्म और परिपूर्ण विचार है। लेकिन इसके बारे में भी आज की रूढ़ कल्पना यही है कि राम-नाम का जप याने सिर्फ अक्षरों का जप। मरते समय 'र' और 'म', ये दो अक्षर किसी तरह मुँह से निकल गये, तो बेड़ा पार हुआ। एक भक्तिमार्गी ने तो मुझसे कहा कि "मरने में अक्षर हैं, म और र, तो राम-नाम में उससे विपरीत क्रम में अक्षर हैं—र और म। इसलिए ये दो अक्षर उन दो अक्षरों को काट डालते हैं।" अर्थात् इस भक्त के लिए राम-नाम एक शब्द-विशेष बन गया। केवल शब्द भी नहीं, क्योंकि शब्द अर्थवान् होते हैं, एक निरर्थक शब्द, याने अक्षर-समूह। अपनी-अपनी भावना दृढ़ करने के लिए अक्षर-चिन्तन की युक्तियाँ भी कोई निकालेगा, तो उसकी श्रद्धा को मैं भंग नहीं करना चाहूँगा। लेकिन ऐसी आरोपित कल्पनाओं से मनुष्य बहुत उन्नति नहीं कर सकता।

नामोच्चारण का तत्त्ववाद

कुछ भक्तिमार्गियों और कर्मकाण्डियों ने तो, जप के लिए लिया हुआ शब्द अर्थवान् नहीं होना चाहिए, यहाँ तक आग्रह रखा है। वेद के अर्थ-चिन्तन से वेद की मन्त्र-शक्ति का क्षय होता है, यह वाद प्राचीन काल से आज तक चला आया है। वे कहते हैं, मंत्र की शक्ति अक्षरों के उच्चारण मात्र में होती है। जब हम रोटी खाते हैं, तो 'रोटी खाते हैं', इसका चिन्तन क्या करना? ईश्वर-नाम का उच्चारण या वेद-मन्त्र का पठन भोजन के समान स्वयं फलदायी है। इतना ही नहीं, लेकिन जैसे खाते समय खाने के सिवा अगर हम कोई चिन्तन करते रहेंगे, तो पचन में बाधा पड़ती है, वैसे ही राम-नाम के साथ अगर अर्थ-चिन्तन की पीड़ा लग गयी, तो हाजमा बिगड़ जायगा और असली लाभ नहीं मिलेगा! अगर चिन्तन करना है, तो राम-नाम की जरूरत ही

क्या है ? चिन्तन तो बिना नाम के अपने मन से कोई भी, जैसा चाहे, कर ही सकता है। नाम लेते हैं, तो चिन्तन का सवाल ही नहीं उठता। नाम स्वयं तारक है। इस तरह केवल नामोच्चारण का भी एक तत्त्ववाद बना हुआ है। इस वाद को मैंने उसके उत्तम रूप में यहाँ रख दिया है।

बापू ने इससे विपरीत चिन्तन, मनन, और आचरण पर जोर दिया है। एक ही उद्धरण बस होगा :

"सिर्फ मुंह से राम-नाम रटने में कोई ताकत नहीं मिलती। ताकत पाने के लिए यह जरूरी है कि सोच-समझकर नाम जपा जाय और जप की शर्तों का पालन करते हुए जिन्दगी बितायी जाय। ईश्वर का नाम लेने के लिए इन्सान को ईश्वरमय जिन्दगी बितानी चाहिए।"

सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म

'विष्णु-सहस्र-नाम' के प्रवक्ता भीष्मदेव ने भी सहस्र-नाम का युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए ऐसी ही अपेक्षा रखी। विष्णु के सहस्र नामों को उन्होंने **यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः**—याने परमेश्वर के विश्वविख्यात 'गौण' नाम—कहा है। यहाँ 'गौण' शब्द हिन्दी के अर्थ में नहीं है। उसके मूल संस्कृत अर्थ में है। 'गौण' नाम याने गुणवाचक नाम। ईश्वर का हर नाम उसके एक-एक गुण का सूचक होता है। अर्थात् उस-उस नाम के साथ उस-उस गुण का चिन्तन साधक को करना चाहिए। इसके साथ आचरण पर भी उतना ही जोर दिया है।

सर्वागमानाम् आचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

सब शास्त्रों की बुनियाद आचार है। आचार में से धर्म की उत्पत्ति है और धर्म के स्वामी परमेश्वर हैं। भाव यह है कि उस धर्म-स्वामी परमेश्वर के नामस्मरण और उसके गुणगणों के चिन्तन

से सदाचार की प्रेरणा मिलती है। इसलिए परमेश्वर का नाम-स्मरण करना **सर्वधर्माणां धर्मः अधिकतरो मतः** —सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है। स्वाभाविक ही इसके लिए मनुष्य को नित्य जागरूक रहना चाहिए। भीष्म ने यह सूचना 'सहस्र-नाम' के आरम्भ में ही दे रखी है :

स्तुवन् नाम-सहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः।

—"नामस्मरण करनेवाले पुरुष को सदा सावधान रहना चाहिए।"

उच्चारणवाद का सारग्रहण

लेकिन इस तरह चिन्तन और आचरण का महत्त्व मानते हुए भी उच्चारणवाद का निरसन तब तक नहीं होगा, जब तक उसमें भी जो सारभूत अश है, उसका ग्रहण नहीं किया जायगा। उसका सारभूत अंश तो यह है कि वाणी बहिर्-जगत् और अंतर्-जगत् के बीच एक ऐसे स्थान पर खड़ी है, जहाँ से दोनों के बीच आयात-निर्यात होता है। इसलिए उस स्थान पर चौकी करने से और उसको पवित्र रखने से जीवन-शुद्धि का कार्य सुलभ होता है। इसलिए आचार और विचार के समान ही उच्चार का भी स्वतन्त्र मूल्य है। तुलसीदासजी ने एक समर्पक दृष्टान्त से यह विशद किया है :

रामनाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
'तुलसी' भीतर बाहिरहुँ, जो चाहसि उजियार॥

इसलिए नामोच्चारण के स्वतन्त्र मूल्य को भी स्वीकार करना होगा। बापू ने उसको खुले दिल से स्वीकार भी किया है। एक प्रश्नोत्तर देखिये :

प्रश्न : क्या राम-नाम को हृदय में ही रखना काफी नहीं है या उसके उच्चारण में कोई खास विशेषता है ?

उत्तर : मेरा विश्वास है कि राम-नाम के उच्चारण का विशेष महत्त्व है। अगर कोई जानता है कि ईश्वर सचमुच उसके हृदय में बसता है, तो मैं मानता हूँ कि उसके लिए मुँह से राम-नाम जपना जरूरी नहीं है। लेकिन मैं ऐसे किसी आदमी को नहीं जानता। उलटे, मेरा अपना अनुभव कहता है कि मुँह से राम-नाम जपने में कुछ अनोखापन है। क्यों या कैसे, यह जानना आवश्यक नहीं।

एक और वचन, जो इससे भी अधिक स्पष्ट है :

"मगर राम-नाम का निरन्तर जप चलता रहे, तो एक दिन वह आपके कण्ठ से हृदय तक उतर आयेगा।"

तुकाराम ने यही कहा था :

नसे तरी मनीं नसो, परी वाचे तरी वसो।

—"मन में चाहे न हो, कम-से-कम वाणी में तो राम-नाम बसे!" कहने का मतलब यही कि कालान्तर में वह अपना काम कर लेगा।

उच्चारणवाद का सार इस तरह ग्रहण करने के बाद मनन, निदिध्यासन और आचरण की महिमा इससे खण्डित नहीं होती। उलटे, वह और भी अधिक प्रकाशित हो उठती है, और वही प्रकाशित हो, इसी उद्देश्य से बापू ने मौखिक राम-नाम का खण्डन और मण्डन भी किया है।

राम-नाम की गाड़ी

सारांश, भक्ति-मार्ग के तीन खतरे हैं—सकामता, मूढ़ विश्वास और मौखिकता। इन्हें टालना बहुत जरूरी है। इन त्रिदोषों से भक्ति के सुगम मार्ग में काँटे बिछ जाते हैं। इसलिए राम-नाम की महिमा गाते हुए इस पुस्तक में सर्वत्र सतर्कता बरतने की भाषा इस्तेमाल की गयी है। ज्ञान और कर्मयोग, इन दो पटरियों पर राम-नाम की गाड़ी चल रही है। उसमें जहाज का विहार नहीं है।

वैज्ञानिकों की आकांक्षा

लेकिन एक जगह इतनी ऊँची उड़ान है कि उसे साधारण वायुयान- विहार नहीं कहा जा सकता। उसे वायुयान द्वारा मंगल आदि ग्रहों पर जाने की उपमा देनी पड़ेगी। वैज्ञानिकों की भी एक आकांक्षा यह है कि अगर किसी भी तरह पृथ्वी के आकर्षण से बाहर जा सकें, तो हम लोग मंगल पर पहुँच सकेंगे। उनकी यह आकांक्षा इस पुस्तक में एक जगह सफल हुई है। चिन्तन पृथ्वी के आकर्षण से पार हो गया है और राम-नाम का जप करते-करते राम-नाम ही उड़ गया है। बापू लिखते हैं :

"मैं अपने जीवन में ऐसे समय की अवश्य आशा करता हूँ कि जब राम-नाम का जप भी प्रतिबन्धक मालूम पड़ेगा। जब मैं यह समझूंगा कि राम वाणी से भी परे है, तब मुझे नाम का जप करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।"

शब्द से परे

'विष्णु-सहस्र-नाम' में यही विचार दो शब्दों में सूचित किया है। 'सहस्र-नाम' कोई विचार-चर्चा करनेवाला ग्रन्थ तो नहीं है। एक के पीछे एक, भगवान् के नाम देता जाता है। उनमें दो नाम ये दिये हैं :

शब्दातिगः शब्दसहः

—"भगवान् शब्द से परे है, लेकिन शब्द को सहन कर लेता है।" उसको हमारे शब्दों की जरूरत भी क्या है और शब्दों से उसका वर्णन हो भी क्या सकता है ? हम अपने मन से उसकी स्तुति करने जाते हैं, लेकिन वास्तव में उससे उसकी निन्दा ही होती है। तो क्या चुप रहना ही ठीक नहीं ?

बापू उत्तर देते हैं :

"हो सकता है, लेकिन बनावटी चुप से कोई फायदा नहीं। जीते-जागते मौन के लिए तो बड़ी भारी साधना की जरूरत है।"

कट्टर कृतिवाद

लेकिन इसका अर्थ भी ठीक से समझ लेना चाहिए। साधारण तौर पर इसका अर्थ हम समझते हैं—निरन्तर सत्कृति। कृतिवादी हमेशा कहते हैं कि विचार के मुताबिक अगर हम कृति करते हैं, तो बोलने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। बापू ने भी कई बार इस तरह कहा है। लेकिन इस जगह उनका भाव दूसरा है। वह क्या है, यह देखने के पहले हम कृतिवाद को ही अपने मन में अधिक स्पष्ट कर लें।

कृतिवाद कहता है : प्रार्थना, नाम-स्मरण, पूजा-पाठ आदि की वस्तुतः कोई जरूरत नहीं है। हम चौबीस घण्टे सत्कर्म में रत रहें, तो बस है। उतना नहीं कर सकते, तो उसकी पूर्ति में प्रार्थना आदि कर लेते हैं। करिये, लेकिन उससे बहुत लाभ की अपेक्षा मत रखियेगा। उसमें बहुत दफा तो समय बेकार जायगा, ढोंग भी होगा। चित्त का काल्पनिक समाधान होने से आचरण के दोषों को सह लेने की वृत्ति निर्माण होगी, शायद निष्क्रियता भी बढ़ेगी। बेहतर तो यही है कि कर्म में ही रत रहें। कर्म-शुचित्व का मार्ग भी कर्म ही बतायेगा। कर्म पर अनन्य निष्ठा रखने के बजाय कुछ निष्ठा कर्म पर, कुछ निष्ठा प्रार्थना पर, इस तरह का द्विधा-भाव रखना अच्छा नहीं है। द्वैत हर हालत में तकलीफ देता है। इसलिए निश्चय करो, **कर्मभिः निःश्रेयसम्**—'कर्म ही मोक्षदायक है'।

जैसा ऊपर हम एक उच्चारणवाद देख गये, वैसा ही यह कृतिवाद है। वादी हमेशा कट्टर होते हैं, वैसे ही यह भी कट्टर है।

ऊँची उड़ान

बापू जहाँ राम-नाम से भी मुक्त होने की बात करते हैं, वहाँ वे कृतिवाद नहीं सोच रहे हैं। बल्कि उनके विचार की उड़ान बहुत ही ऊँची है, जिसकी कल्पना कृतिवाद को असह्य होगी। बापू का भाव उन्हींके शब्दों में देख लीजिये :

"एक सच्चा विचार सारी दुनिया पर छा सकता है, उसे प्रभावित कर सकता है। वह कभी बेकार नहीं जाता। विचार को बोल या काम का जामा पहनाने की कोशिश ही उसकी ताकत को सीमित कर देती है। ऐसा कौन है, जो अपने विचार को शब्द या कार्य में पूरी तरह प्रकट करने में कामयाब हुआ हो ?"

आगे कहते हैं :

"आप यह पूछ सकते हैं कि अगर ऐसा है, तो फिर आदमी हमेशा के लिए मौन ही क्यों न ले ले ? उसूलन् तो यह मुमकिन है, लेकिन जिन शर्तों के मुताबिक मौन विचार पूरी तरह क्रिया की जगह ले सकते हैं, उन शर्तों को पूरा करना बहुत मुश्किल है। मैं खुद अपने विचारों पर इस तरह का पूरा-पूरा काबू पा लेने का कोई दावा नहीं कर सकता। लेकिन मेरे दिल में तो इसकी एक तस्वीर खिंच गयी है।"

तस्वीर संन्यास की

इसमें जहाँ शब्द का निषेध किया है, वहाँ कृति का भी निषेध किया है। अक्सर तो हम कहते हैं, और बापू ने भी कई दफा कहा है कि विचार को हमें कृति में उतारना चाहिए, कृतिशून्य विचार कोई ताकत नहीं रखता। लेकिन यहाँ तो उससे बिलकुल उलटी बात कह दी है :

"विचार को काम का जामा पहनाने की कोशिश ही उसकी ताकत को सीमित कर देती है।"

यहाँ हम संन्यास के करीब पहुँच चुके हैं।

'संन्यास' का नाम लेते ही कुछ लोग मुझ पर रुष्ट हो जायेंगे, यह मैं जानता हूँ। लेकिन कर्मयोगी गांधी के दिल में जो तस्वीर खिंच गयी है, वह संन्यास की है, इसके लिए मेरा कोई इलाज नहीं है। शंकराचार्य की वही हालत थी। वे भी आमरण कर्म-योगी रहे, लेकिन संन्यास की रटन रटते रहे।

क्रियातीत शक्ति

'संन्यास' कहने से हमारे मन में दुर्बल निष्क्रियता का ही खयाल आता है। लेकिन क्रियातीत एक शक्ति होती है, जिसका मुकाबला तीव्रतम क्रिया भी नहीं कर सकती। वही ज्ञानमय-संन्यास की शक्ति है। जैसे, एक अहिंसा दुर्बल होती है और एक बलवान्। जो बलवान् की अहिंसा होती है, उसमें हिंसा से शतगुणित शक्ति भरी रहती है, वैसी ही संन्यास की बात है। जहाँ संन्यास की परम भूमिका आती है, वहाँ कोई भी क्रिया, सात्त्विक भी, हिंसा में शुमार होती है। चाहे यह अवस्था देह में प्राप्त न हो सके, तो भी निदिध्यासन उसीका होना चाहिए। मानव का जन्म उसी लब्धि के लिए है। मानव-आकृति भी हमें यही बोध देती है। पाँव तो उसका जमीन पर रहे, लेकिन मस्तक आसमान में रहना चाहिए। एक हद तक क्रिया विचार की मददगार होती है। उसके बाद उसको वह बाधक हो जाती है। गीता ने यह बहुत अच्छी तरह समझाया है। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म : यह है गीता-सूत्र। आत्मदर्शी ज्ञानी कर्म करते हुए नहीं करते और न करते हुए भी कर लेते हैं। इस चीज का जिसने अनुभव किया, उसने सब ज्ञान पा लिया, सब योग साध लिया, सब काम कर लिया :

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न-कर्म-कृत्।

कृतकृत्यता

शंकराचार्य के संन्यास-विवरण पर कोई कृतिवादी गरज उठे, "इसमें तो कर्तव्यता-हानि होती है।" तब उसी शब्द को मान्य करके वे जवाब देते हैं :

अलंकारो हि अयं अस्माकम् यत् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यता-हानिः कृतकृत्यता चेति ।

"हम अपना यह अलंकार (भूषण) ही समझते हैं कि आत्म-दर्शन होने पर सर्व-कर्तव्यताहानि होती है और मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।"

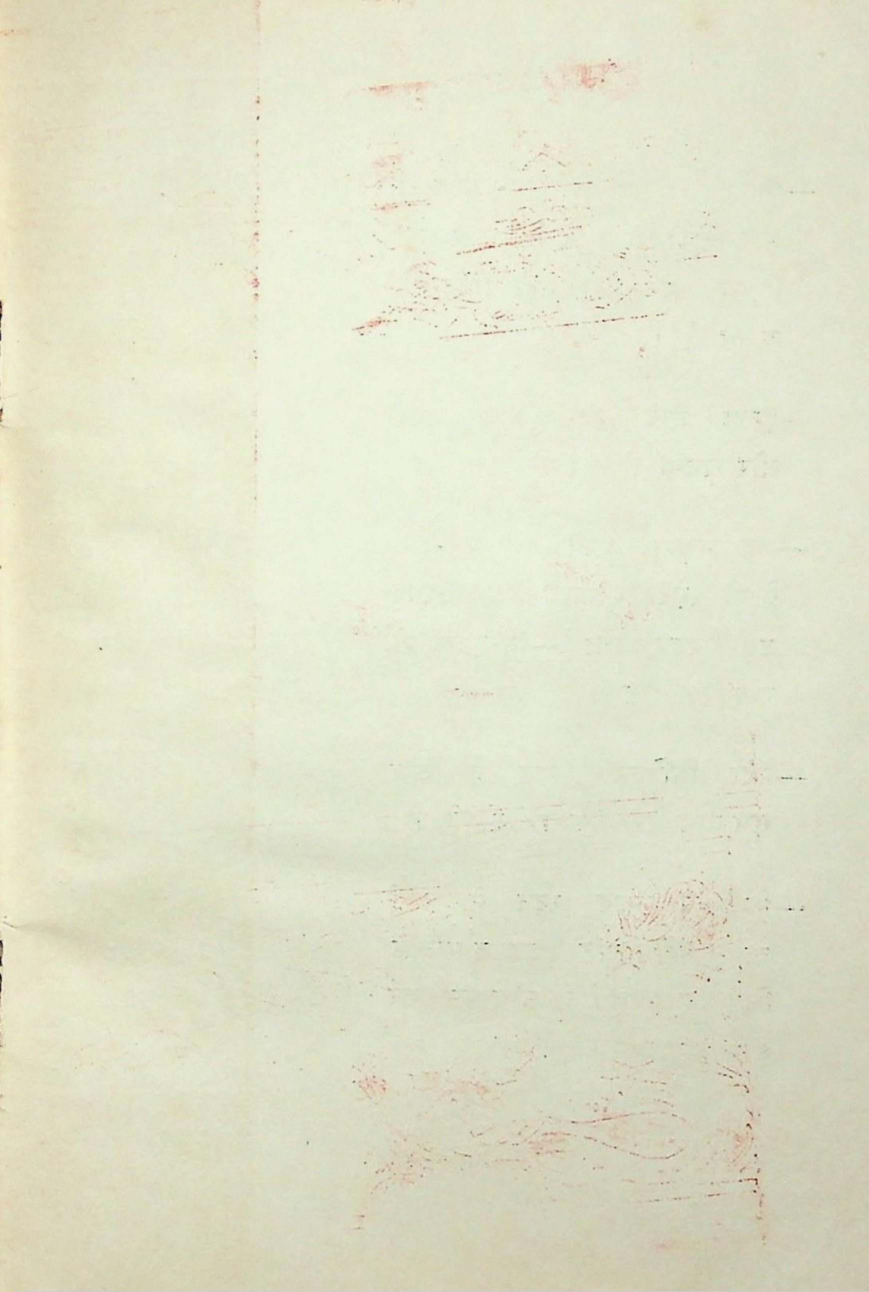
यही राम-नाम का साफल्य है और यहीं उसकी समाप्ति होती है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. उपनिषद् ८, १०, १२
२. ऋग्वेद ८
३. कुरान ८, ३७
४. गीता २० से २२, २९, ३०, ४८
५. गीता-प्रवचन ३०
६. ग्रंथसाहिब ३६
७. चरक-संहिता २२
८. जपुजी ७
९. तुलसी-रामायण ३६
१०. मटेरिया मेडिका ३६
११. मराठी गुरु-चरित्र ३६
१२. मंगल-प्रभात ७
१३. मिस्टीरिअस यूनिवर्स ३५
१४. राम-रक्षा-स्तोत्र १८
१५. रामायण ८
१६. विनय-पत्रिका ३१
१७. विष्णु-सहस्र-नाम १०, १३
१८. वेद ८ से १०, १२
१९. शनि-माहात्म्य ३६
२०. सप्तशती ३६
२१. हरिपाठ ७

उल्लिखित व्यक्तियों की सूची

प्रमुख शब्दों की सूची



—प्रातःकाल उठते ही राम-नाम लेना और कहना कि 'मुझे निर्विकार कर' मनुष्य को अवश्य ही निर्विकार करता है।

—गुस्सा आये तब चुप हो जायँ और राम-नाम लेकर उसे निकाल दें।

—जब मनुष्य अपने को रज-कण से भी छोटा मानता है, तब ईश्वर उसकी मदद करता है—निर्बल को ही राम बल देता है।

—मेरा चिकित्सक राम है और राम-नाम मेरी एकमात्र औषधि है।

—सिर्फ राम-नाम रटने से कोई ताकत नहीं मिलती। ताकत पाने के लिए जरूरी यह है कि सोच-समझकर नाम जपा जाय।

—गांधीजी

